भारतीय संसदः क्या जस की तस है ?
The Indian Parliament: Frozen in Time?

सीवी मधुकर
CV Madhukar
March 28, 2011

उदीयमान लोकतंत्र के आदर्श के रूप में भारत की विश्व भर में व्यापक रूप में सराहना की जाती है. पिछले छह दशकों से भारत लोकतांत्रिक परंपराओं को बनाए रखने में और उन्हें मज़बूत करते हुए एक लोकतांत्रिक देश के रूप में अपना अस्तित्व असंग्दिग्ध रूप से बनाए रखने में कामयाब रहा है. परंतु हाल ही के कुछ वर्षों में भारतीय संसद, जिससे करोड़ों लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करने और उन्हें आकार देने की अपेक्षा की जाती है, कुछ तनाव के दौर से गुज़र रही है. चिंता के बहुत से कारण हैं. आपराधिक आरोपों से घिरे लोगों के संसद सदस्य बनने से लेकर राजनीति में पैसे के बढ़ते अनुचित प्रभाव तक बहुतसे सवाल हैं, जिनके कारण एक संस्था के रूप में संसद को प्रभावी बनाए रखने का मूलभूत प्रश्न भी हमारे सामने आ खड़ा हुआ है.

संसद को प्रभावी बनाए रखने के सवाल के साथ बहुत-से आयाम जुड़े हैं. परंतु प्रतिनिधि मानदंड, जो अनेक रूपों में संसद को प्रभावी बनाए रखने की एक पूर्व-शर्त हो सकती है, यह है कि क्या संसद महत्वपूर्ण राष्ट्रीय मुद्दों पर नागरिक संवाद का स्थल बन सकती है. संसद की कार्यवाही में बार-बार रुकावटें पैदा करना, बिना चर्चा के ध्वनि मत से ही सदन में भारी शोर-शराबे के बीच विधेयक पारित करना कुछ ऐसे लक्षण हैं, जो कहीं अधिक गंभीर समस्या की ओर इंगित करते हैं. हाल के वर्षों में लोक सभा और राज्यसभा के अध्यक्षों ने बार-बार इस बात पर चिंता प्रकट की है कि दोनों सदनों की कार्यवाही सुचारू रूप में नहीं चल रही है. हाल ही में राज्यसभा ने कार्यवाही में रुकावट की समस्या के निराकरण के लिए प्रश्नोत्तर-काल में कुछ परिवर्तन करने का निर्णय भी किया है,लेकिन इससे भी कार्यवाही में रुकावटों का दौर कम नहीं हुआ है. यह बात लगातार साफ़ होती जा रही है कि संसद की कार्यवाही सुचारू रूप से न चल पाने के कारण हमारी नीति-निर्माण की प्रक्रिया पर गंभीर प्रभाव पड़ सकता है,

परंतु चिंता की अधिक गंभीर बात तो यह है कि एक संस्था के रूप में राष्ट्रीय नीति-निर्माण में संसद की भूमिका कम हो सकती है. पुराने दस्तावेज़ों से यह बात साफ़ हो जाती है कि स्वाधीनता के आरंभिक वर्षों में भारत के प्रधानमंत्री श्री नेहरू संसद के प्रति बहुत गंभीर थे और सभी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय मामलों में संसद की भूमिका को सुनिश्चित करते थे. इसका परिणाम यह होता था कि संसद की कार्यवाही साल भर में लगभग 140 दिन चलती थी. बाद के राजनैतिक नेताओं ने संसद को वह शालीनता और सम्मान प्रदान नहीं किया, जिसके कारण धीरे-धीरे हर साल संसद की कार्यवाही के दिन कम से कम होते चले गए.

आपात् काल के बाद दो महत्वपूर्ण बातें ऐसी हुईं जिनसे संसद की भूमिका पर गंभीर प्रभाव पड़ा. पहली बात तो यह हुई कि सन् 1985 में संसद में दल-बदल विरोधी विधेयक पारित हुआ और दूसरी बात यह हुई कि संसद में विभागवार संसदीय स्थायी समिति प्रणाली शुरू की गई. बहुत-से बुद्धिजीवी यह मानते हैं कि दल-बदल विरोधी कानून के कारण संसद सदस्य यह समझने लगे कि अब संसदीय कार्य के लिए तैयारी बहुत

आवश्यक नहीं रह गई है, क्योंकि वे किसी मुद्दे पर अपनी कोई भी राय क्यों न रखते हों उन्हें अपने दल के सचेतक की बात तो माननी ही होगी, अन्यथा वे अपनी संसदीय सीट गवाँ बैठेंगे. साथ ही जब महत्वपूर्ण कानून भी टुकड़ों में पारित होने लगे हैं तो संसद सदस्यों के लिए संसद में उपस्थित रहने का भी कोई फ़ायदा नहीं है. इसके अलावा ध्वनि मत से विधेयक पारित होने की प्रथा चल पड़ने के कारण भारत में सांसदों के मतदान का रिकॉर्ड भी नहीं रखा जाता. इस तथ्य से समस्या और भी गंभीर हो जाती है कि न तो संसद सदस्यों के पास शोध कार्य के लिए कोई स्टाफ़ होता है और न ही संसद का पुस्तकालय उन्हें अखबारों की कतरन के अलावा कोई और शोध सामग्री ही प्रदान करता है. बस एक बात ज़रूर कुछ हद तक सकात्मक हुई है कि सन् 1993 में स्थायी समितियों के गठन के रूप में एक नवोन्मेषकारी बात यह हुई कि इससे विधेयकों की संवीक्षा करने की और कार्यपालिका के काम पर नज़र रखने की संसद की क्षमता बढ़ गई है.

परंतु पिछले दो दशकों में भारत की राजनैतिक व्यवस्था और समाज में अनेक ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं जो संस्था के रूप में संसद में प्रतिबिंबित नहीं हो पाए. पहला परिवर्तन यह हुआ कि गठबंधन राजनीति के साथ-साथ अनेक छोटे-छोटे दलों का उदय हुआ और ये दल देश के अनगिनत स्वरों का प्रतिनिधित्व करते हैं. जब अनेक छोटे-छोटे दलों का संसद के स्वर पर वर्चस्व बढ़ने लगा है तो एक ऐसे अंतर्दलीय तंत्र की आवश्यकता महसूस होती है जिससे संसद के सामने लाए जाने वाले मुद्दों को तैयार करने और उन्हें पेश करने के तौर-तरीकों का प्रबंधन किया जा सके. संसद में आने वाले दलों की संख्या में वृद्धि के कारण अब इस बात का पूर्वानुमान लगाना असंभव है कि कब और कैसे मुद्दों को पेश किया जा सकेगा.

दूसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति यह उभरी कि संसद की कार्यवाही के दिन कम होने लगे.1950 के दशक में जहाँ संसद की कार्यवाही साल-भर में लगभग 140 दिन चलती थी, वहीं यह संख्या पिछले पाँच वर्षों में घटकर औसतन पैंसठ दिन रह गई है. इसलिए जहाँ एक ओर संसद में उठने वाले स्वरों की संख्या बढ़ गई है, वहीं दूसरी ओर समय बहुत कम हो गया है. इसके कारण आशाओं और आकांक्षाओं को प्रबंधित करने में संसद सदस्यों और दोनों सदनों के पीठासीन अधिकारियों की चुनौतियाँ भी बढ़ने लगी हैं.

तीसरा महत्वपूर्ण कारण है, संसद से सीधे दूरदर्शन का प्रसारण. इसका कामकाज पर भी असर पड़ने लगा है. इसमें संदेह नहीं कि सीधे दूरदर्शन के प्रसारण के कारण संसदीय कार्यवाही में अधिक पारदर्शिता आती है और साथ ही संसद लोगों के करीब आती है, लेकिन इससे कुछ सांसदों में उन मामलों को सामने लाने की होड़ भी लग जाती है जिनके बारे में वे अच्छी तरह जानते हैं कि सीधे प्रसारण के अलावा मीडिया में भी उन्हें अच्छा कवरेज मिलेगा.

संसद के बाहर भी कुछ ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं जिनके कारण संसद और जनता के संबंधों में मूलभूत परिवर्तन हुए हैं. चौबीसों घंटे चलने वाले समाचार-चैनल आ गए हैं और लोकप्रिय भी हो गए हैं, नई प्रौद्योगिकी के कारण लाखों लोगों के हाथों में मोबाइल आ गया है, इंटरनेट का प्रयोग बढ़ रहा है, भले ही उसकी गति थोड़ी धीमी है. सूचना के अधिकार ने जड़ें पकड़ ली हैं, नागरिक समितियों की संख्या और उनके सरोकार के मुद्दे भी बढ़ने लगे हैं.

इन परिवर्तनों का और अन्य परिवर्तनों का लाभ उठाते हुए संसद के अंदर और बाहर भी कुछ सांसदों ने अपने

मुद्दों को रखने के कुछ नए और प्रभावी तरीके भी ढूँढ लिए हैं. बहुत-से सांसद इस बात को लेकर भी आश्वस्त हैं कि संसद की कार्यवाही भंग करने पर भी उन्हें दंडित नहीं किया जा सकेगा और कभी-कभी तो जिस मुद्दे पर वे संसदीय कार्यवाही में वे रुकावट डालते हैं, उसके कारण उन्हें समाचारों में और भी अधिक महत्व मिल जाता है और कई दिनों तक वह मुद्दा राष्ट्रीय चैनलों पर छाया रहता है. इसके विपरीत यदि वे उस मुद्दे पर संसद में मात्र बहस करते तो भी इतना कवरेज उन्हें नहीं मिलता. संसद के सामने आज चुनौती यह है कि सांसदों द्वारा उठाए जाने वाले सार्थक मुद्दों के लिए अधिक समय रखा जाए, भले ही वे अल्पसूचना पर ही क्यों न उठाए गए हों और उसके बाद जो भी कानून तोड़े उन सब पर नियमानुसार कार्रवाई की जाए.

संसदीय लोकतंत्र में बहुमत द्वारा सरकार गठित की जाती है, लेकिन उसमें विरोधी दल और छोटे दलों के लिए भी कहीं अधिक गुंजाइश होनी चाहिए ताकि वे भी उन तमाम मुद्दों पर अपने विचार सामने रख सकें जिन पर वे कोई सरोकार रखते हों. हमें एक ऐसा तंत्र विकसित करना होगा जिसमें परिवेश में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप संस्थाएँ अपने-आपको अनुकूलित कर सकें और किसी भी जीवंत संस्था के लिए यह आवश्यक है.

सार्वजनिक संस्थाएँ अपने मूल स्वरूप में ही मज़बूत होनी चाहिए और उनके नेतृत्व में इतनी ताकत होनी चाहिए कि उन्हें सामयिक और संवेदनशील बनाए रखने के लिए यदा-कदा संस्था के अंदर और बाहर होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप उन्हें बदला जा सके. किसी भी मानदंड से देखें तो हम पाएँगे कि भारतीय संसद में अब तक वे परिवर्तन भी नहीं किए गए हैं, जो नई परिस्थितियों की माँग के अनुरूप हैं. वर्तमान नेतृत्व के लिए अब समय आ गया है जब वे आगे बढ़कर नए तौर-तरीके खोजें, जिनसे संसद को सुचारू रूप में चलाया जा सके.

सी.वी. मधुकर नई दिल्ली स्थित पीआरएस विधायी शोध (www.prsindia.org) *के निदेशक हैं.*
उनसे madhukar@prsindia.org *पर संपर्क किया सकता है.*

हिंदी अनुवादः विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा),रेल मंत्रालय, भारत सरकार
<malhotravk@hotmail.com>